IJCRT.ORG ISSN : 2320-2882

INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS (IJCRT)

An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

श्रीमद्भगवद्गीता और पातंजल योगदर्शन में वर्णित कर्मयोग का मीमांसात्मक अध्ययन

1.प्रतीक सुनीलराव पाथरे, शोध छात्र,

2.सुनील म. लाबडे, सहाय्यक प्राध्यापक

योग विभाग, डिग्री कॉलेज ऑफ़ फिजिकल एज्युकेशन, अमरावती, महाराष्ट्र,भारत.

सारांश- योग की अलग अलग साधना पद्धतिया प्रचलित है। हर एक साधना पद्धतिसे साधना कर साधक मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। कर्मयोग इसी साधना पद्धति में से एक है। सृष्टि के हर एक प्राणी को कर्म करना पड़ता है। विना कर्म किये कोई भी प्राणी यहाँ जीवन यापन नहीं कर सकता, मनुष्य का जीवन भी कर्मप्रधान है। प्रस्तुत अध्ययन में श्रीमद्भगवद्गीता और पातंजल योगदर्शन में वर्णीत कर्मयोग का अध्ययन किया गया है। उसके लिए वर्णनात्मा और विश्लेषणात्मक पद्धति का अवलम्ब किया गया। और यह पाया गया की दोनों ग्रंथो में मनुष्य जीवन उच्चतम अवस्था को प्राप्त करने के लिए कर्मयोग महत्वपूर्ण है तथा कर्मयोग की सामान अवधारणा देखने मिली है। जिसे श्रीकृष्ण ने निष्काम कर्मयोग और पतंजलि ने अशुक्ल-अकृष्ण कर्म कहा है।

मुख्य शब्द - श्रीमद्भगवद्गीता, पातंजल योग, कर्मयोग

प्रस्तावना - योग यह भारत ने विश्व को दिया एक अनुपम उपहार है। आज जीवन के हर पहलु पर योग का सकारात्मक प्रभाव दिखाई देता है। योग का इतिहास और उत्पत्ति के बारे में अलग अलग शोधकर्ताओ की विभिन्न राये है। भारतीय साहित्य के विभिन्न ग्रंथ तथा साहित्य में भी योग का अंतर्भाव दिखाई पड़ता है। यु तो योग मुख्यतः प्राण संयम और भावना योग इन दो भागो में विभक्त है। भावना योग के अंतर्गत ध्यान योग, कर्म योग और भक्ति योग का अंतर्भाव होता है। वैसे तो यह सभी योग मनुष्य को कैवल्य की और अग्रेसित करते है, और इसी लिये हर साधक अपना पथ स्वेच्छा से मार्गस्थ कर सकता है। कर्मयोग इसी योग श्रृंखला एक भाग है। श्रीमद्भगवद्गीता और पातंजल योगदर्शन यह दोनों योग के महत्वपूर्ण ग्रंथ है। दोनों ग्रंथों में हमें कर्मयोग का वर्णन विशाल स्वरूप में मिलता है।

डॉ. जी. डी. शर्मा ने जुलाई 2016 में आधुनिक समय में कर्मयोग की उपादेयता इस विषय पर शोधपत्र प्रकाशित किया, जिसमे उन्होंने आधुनिक जीवन की विसंगति या और अप्राकृतिक व्यवस्थाओ का भंजन कर मनुष्य मात्र के पुनरुथान का मार्ग कर्मयोग ही है यह निष्कर्ष निकाला।[1]

डा. सरोज गुप्ता ने दिसंबर 2017 में गीता में कर्मयोग इस विषय पर शोधपत्र प्रकाशित किया जिसमे उन्होंने आधुनिक समय में स्वार्थलिप्त मनुष्य जो भौतिक सुखों की कल्पना में उचित-अनुचित कार्यों में लिप्त है। यदि वह 'कर्मयोगी' बनकर कर्म करे तो अवसाद और चिन्ता से मुक्त हो जाए। अतः गीता का कर्मयोग हर युग में प्रासंगिक है। यह निष्कर्ष निकला[2]

इसलिए इस साधना पद्धति को समझने के लिए श्रीमद्भगवद्गीता और पातंजल योगदर्शन में वर्णित कर्मयोग का मीमांसात्मक अध्ययन करने की शोधकर्ता की मनीषा है।

कर्मयोग प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का माध्यम मार्ग है. कर्म शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के कृ धातु से निष्पन्न है। इसका अर्थ है करना या व्यापार, कर्म के साथ योग (युज+ कृ) दो वस्तुओं या ईश्वर एवं जिव को एक में मिलने का नाम योग है। फल और आसक्ति को त्याग कर निष्काम भाव से कर्म करना ही कर्मयोग है।

भगवत गीता के द्वितीय अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को कर्म फल की इच्छा को त्याग कर कर्म करने का आदेश देते है।

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि"[3]

यहाँ कर्मयोग का मूल मंत्र बताते हुए श्रीकृष्ण कहते है की कर्तव्य को कर्म समझ क्र करना चाहिए , क्योकि फल की इच्छा से किया गया कर्म मनुस्य के लिए पाप और पुण्य का कारण बनकर उसको भोगने के लिए जन्म और मरण रूपी बंधन का कारण बनता है। यदि वह कर्म कर्तव्यबुद्धि से किया जाए तो पाप और पुण्य का कारण नहीं बनता और उन पाप-पुण्य को भोगने के लिए जन्म और मरण की आवश्यकता नहीं होती और मनुष्य इस बंधन से मुक्त हो मोक्ष की और अग्रेसर होता है। यही कर्मयोग का मूल सिद्धांत हैं।

जब हम अपना कोई कार्य करते हैं, चिंतन करते हैं और उसके माध्यम से यश या अन्य किसी भी प्रकार के लाभ की आकांक्षा रखते हैं, तो हम निश्चित ही अनासक्ति से विचलित हो जाएंगे। फल के कारण हमारे अन्दर डर पैदा होता है। वही डर हमें कार्य को कुशल रूप में करने में बाधक होता है। इसीलिए श्रीकृष्ण का मत है कि फल प्रेम का त्याग ही कर्मयोग की सफलता है। इसी को कर्मयोग के केन्द्रीय भाव के रूप में व्यक्त करते हुए कृष्ण कहते हैं।

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।।[4]

तू योग में स्थित होकर सभी तरह की आसक्तियों को त्यागकर सफलता असफलता,लाभ हानि में मन को समान रखते हुए अपना कार्य कर,क्योंकि मन की समता को ही योग कहते हैं अर्थात् हमें परिणामों के प्रति उदासीन होकर अविचलित एवं शांत भाव से कार्य करना

चाहिए। यह भी उल्लेखनीय है कि कार्य-फल के प्रति उदासीनता का यह भाव व्यक्ति की अंतरात्मा से सहज रूप से निःसृत होना चाहिए। गीता में योगी अर्थात् समत्व बुद्धि प्राप्त व्यक्ति के लक्षण को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है।

बुद्धिमुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।।[5]

जो साम्य और बुद्धि से मुक्त हो गया है, वह पाप और पुण्य, अच्छे और बुरे दोनों कर्मों से अलिप्त रहता है। अतएव तू योग का आश्रय कर योग सभी कार्यों को कुशलता से करने का नाम है। एक ही कर्म को करने के अनेक उपाय होते हैं किन्तु उनमें से जो उपाय सर्वोत्तम हो यानि जिसमें उच्च भाव की अभिव्यक्ति हो, उसी को योग कहते हैं। उदाहरण के लिए द्रव्य उपार्जन करना एक कर्म है। इसके अनेक उपाय हैं जैसे चोरी करना, ऋण लेना, भीख माँगना, मेहनत करना आदि। यद्यपि धातु के अर्थानुसार हर एक को योग कहा जा सकता है। किन्तु यथार्थ द्रव्य प्राप्ति योग उसी उपाय को कहते हैं जिससे हम अपनी स्वतंत्रता से मुक्त होकर परिश्रम करते हुए धनोपार्जन कर सकें। इसके अतिरिक्त कर्म करते समय बुद्धि को स्थिर पवित्र, राम और शुद्ध रखना ही वह कौशल है और इसी को योग कहते हैं।

कर्मयोग एक अतिविशिष्ट एवं उन्नत अवस्था है। यह कर्म करने की एक ऐसी विधा है, जिसे सफलतापूर्वक परिभाषित भी नहीं किया जा सकता। यह कर्म से विमुखता नहीं है। इसी बात को यों कहा गया है।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्य पुरुषोऽश्नुते
न च सन्यसनादेव सिद्धि समाधि गच्छति । ।[6]

कर्म का प्रारंभ करने से ही किसी व्यक्ति को नैष्कर्म्य की प्राप्ति नहीं हो जाती और न केवल कर्मों के सन्यास से ही उसे सिद्धि प्राप्त हो सकती है। कर्मशून्यता को नैष्कर्म्य नहीं कहा जाता। यदि हम कर्म छोड़ देने का भी विचार करें तो भी जब तक यह शरीर है, तब तक सोना, बैठना आदि कर्म कभी रुक ही नहीं सकते। इसलिए कोई भी मनुष्य कभी कर्म शून्य हो नहीं सकता। परिणामस्वरूप कर्मशून्य रूपी नैष्कर्म्य असंभव है। गीता का सिद्धांत है कि कर्मों में से आसिक्त हटा लेना ही नैष्कर्म्य का एकमात्र उपाय है।

महर्षि पतंजलि ने पातंजल योगसूत्र में साधक के लिए शुरवात से अंत तक साधना पद्धति को बड़े सरलतासे सूत्रबद्ध किया है। अष्टांग योग के माध्यम से साधक अपनी साधना शुरू करता है,जिसमे यम - नियम के माध्यम से आचरण शुद्धि पर बल दिया गया है,क्यों की जबतक साधक की आचरण शुद्धि नहीं होंगी तबतक उसका चित्त एकाग्रित नहीं हो सकता। यम नियम का अनुसरण करना किसी कर्मयोग साधना से कम नहीं है। क्योंकी इसका पालन करने के लिए खुद को मानसिक रूप से सर्वथा तैयार करना पड़ता है।

महर्षि पतंजलि ने कैवल्य पाद में कर्मो के विविध प्रकारो का वर्णन किया है,जिसके बाद योग साधना में लीन साधक ने कौन से कर्म का अनुसरण करना चाहिए उसका भी वर्णन किया है।

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ।[7]

शुक्ल कर्म उन कर्मों को केहते है, जिनका फल सुखभोग होता है और कृष्णकर्म उनको कहते है, जो नरक आदि दुःखोंके कारण है। अर्थात पुण्यकर्मो का नाम शुक्ल कर्म है और पाप कर्मो का नाम कृष्ण कर्म है। सिद्ध योगिके कर्म किसी प्रकार का भी भोग देने वाले नहीं होते क्योकि उसका चित्त कर्मसंस्कारोंसे शुन्य होता है। इसलिए उन कर्मो को अशुक्ल और अकृष्ण कहते है। योगियों के सिवा साधारण मनुष्य के कर्म तीन प्रकार के होते है।

1) शुक्ल अर्थात पुण्य कर्म
2) कृष्ण अर्थात पाप कर्म
3) शुक्लकृष्ण कर्म अर्थात पुण्य और पाप मिले हुए

उपरोक्त दोनों ग्रंथो के कथनो में हमने देखा की,साधक को अपने कर्म फल की आसक्ति का त्याग कर कर्म करते रहने की बात की है। गीता में 2.47 श्लोक में श्रीकृष्ण कहते है की कर्म करते रहिये फल की अपेक्षा मत कीजिये, वही पतंजलि ने 4.7 में साधक को अशुक्ल अकृष्ण कर्म करने की सलाह दी है। जो किसी भी प्रकार के फलेच्छा से रहित हो और फिर दोनों ग्रंथो में आगे यह करने से क्या निष्पादित होता है उसके बारे में चर्चा की है।

यही कारण है कि कर्मयोग को बतलाते हुए कृष्ण अर्जुन को इसी मार्ग का आचरण करने का उपदेश देते हैं

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो हयकर्मण
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणि ।।[8]

स्वधर्म के अनुसार तू नियमित कर्म कर, क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना कहीं अधिक अच्छा है। बिना कर्म किए तो तेरे लिए जीना असंभव हो जाएगा। इसके बाद यह भी बताया गया है कि यद्यपि मुक्त मनुष्य के लिए कर्म या अकर्म द्वारा कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रहता, और वह आत्मा में स्थित होकर पूर्ण रम्य रूप में सुखी रहता है। फिर भी निष्काम कम एक ऐसी वस्तु है, जिसे वह संसार के कल्याण के लिए करता रहता है। भगवान कृष्ण अर्जुन को अनासक्त होकर सदैव कर्म करने को कहते हैं। वे अनासक्त होकर कर्म करने वाले व्यक्ति के महत्त्व को बताते हुए कहते हैं कि ऐसा व्यक्ति परमगति को प्राप्त करता है

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पुरुषः ।।[9]

यहाँ पर आसक्ति रहित होकर किए गए कर्म को यज्ञ की भावना से किए गए कार्य की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ बतलाया गया है। यज्ञ की भावना से किया गया कार्य अपने आप में स्वार्थ भावना से किये गए कार्य की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ होता है।

निष्काम कर्म के द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, इसका उदाहरण प्रस्तुत करते हुए गीता कहती हैं।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ।।[10]

राजा जनक तथा अन्य लोगों के कर्म के द्वारा ही पूर्णता प्राप्त की थी। तुम्हें लोक संग्रह अर्थात् संसार को बनाए रखने के लिए भी कर्म करना चाहिए । राजा जनक कर्तृत्व की वैयक्तिक भावना को त्यागकर शासन करता था। लोक संग्रह के लिए कार्य करता था । विश्व को भौतिक कष्ट एवं नैतिक अधरू पतन की ओर गिरने से बचाने के लिए तथा सामान्य जीवन को सुचारू रूप से चलाने के लिए सामाजिक कर्म का नियंत्रण धार्मिक नीति से होना चाहिए। धर्म का उद्देश्य समाज का आध्यात्मीकरण करना एवं पृथ्वी पर विश्व बन्धुत्व के भाव की स्थापना करना है।

गीता का कर्मयोग इतना महत्त्वपूर्ण है कि स्वयं भगवान कृष्ण अपने कार्यों को इसी कोटि में रखते हैं।

त्यक्त्वा कर्मफलासंग नित्य तृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित् करोति सः । ।[11]

अर्थात् कर्म के फल के प्रति आसक्ति को त्याग कर सदेव तृप्त रहकर,बिना किसी पर आश्रित हुए वह भक्त ही सदैव किसी कार्य में लीन रहे,फिर भी वह वस्तुतः कुछ नहीं करता। क्योंकि कर्तापन के भाव का ही अतिक्रमण कर चुका होता है।

अनासक्त भाव से कर्म करने वाले व्यक्ति का संतुलन बना रहता है,क्योंकि वह इच्छा से उद्वेलित नहीं होता और ईश्वर के साथ एकात्म होकर ही कार्य करता है। इस प्रकार के भाव को प्राप्त करना सच्ची नैष्कर्म्य आसक्ति से मुक्त होना है।

अकर्म का अर्थ अकर्मण्यता नहीं, बल्कि कर्म के फलस्वरूप होने वाले बंधन का अभाव है क्योंकि कर्म अनासक्त होकर किया जाता है। अतः अनासक्त होकर कर्म करने वाला व्यक्ति कभी बंधन में नहीं पड़ता।

साधारण मनुष्योंके इन तीन प्रकारके कर्मोंका भोग किस प्रकार होता है इसके बारे में महर्षि पतंजलि कहते है।

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ।[12]

योग साधना के द्वारा जिसका चित्त शुद्ध नहीं हुआ है,उन साधारण मनुष्योंके कर्म संस्कार रूप से अन्तःकरणमें संगृहीत (इकठ्ठे हुए) रहते है। अतः उन कर्मोमेंसे जो कर्म जिस समय फलभोग करानेके लिए तैयार होता है। उस समय उस कर्मका जैसा फल होनेवाला है, वैसी ही वासना उत्पन्न होती है। अन्य कर्मो के फलभोगकी नहीं।

कर्मयोग के द्वारा कर्मों का विवरण करने के बाद दोनों ग्रंथो में यह बताया की, जबतक वासना (फल को उपभोगने की की लालसा) है, तबतक साधक अपनी साधना में स्थिर नहीं हो सकता। गीता में कर्म और अकर्म इन दो कर्मो से विन्मुख होकर राजा जनक के सामान कर्म करने को कहा है। यानि सबकुछ प्राप्त होने के बाद भी उसे उपभोग की कामना मन में ना होना। और पतंजलि भी कहते है की साधना करते वक्त अगर फलभोग की भावना है तो साधक साधना से भ्रष्ट होंगा।

भगवद्गीता के तृतीय एवं चतुर्थ अध्याय में योगेश्वर कृष्ण द्वारा कर्मों के त्याग और निःस्वार्थ कर्म दोनों ही प्रशंसा किए जाने पर अर्जुन दुविधा में पड़ जाता है और इसके परिणामस्वरूप वह कृष्ण से प्रश्न करता है कि कर्मों के त्याग और निष्काम कर्म में कौन श्रेष्ठ है इसको मुझे सुनिश्चित रूप से बताइए? इसके उत्तर में कृष्ण कहते हैं।

सन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ
तयोस्तु कर्मसन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ।।[13]

अर्थात् कर्मसन्यास और कर्मयोग दोनों ही आत्मा को मुक्ति के पथ पर ले जाने वाले हैं किन्तु इन दोनों कर्मों के त्याग देने की अपेक्षा निष्काम रूप से कम करना अधिक श्रेयस्कर है। सांख्य पद्धति में कर्म त्याग पर जोर दिया गया है और योग में सही भावना से कर्म करने पर आग्रह किया गया है। मूल में पहुंचकर दोनों एक ही हैं किन्तु योग मार्ग हमारे समक्ष अधिक स्वाभाविक रूप में आता है।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियाः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ।[14]

जब हम मोक्ष प्राप्त करने को इच्छुक होते हैं तब आंतरिक त्याग की सही भावना से किया गया कार्य हमारे लिए सहायक होता है और जब हमें सिद्धि प्राप्त हो जाती है तब किसी की प्राप्ति हेतु कर्म नहीं करते अपितु परमात्मा की चेतना में अवस्थित होने के नाते कर्म करते रहते हैं। इस प्रथम कोटि के कर्मों के द्वारा आत्म नियंत्रण प्राप्त करने के लिए संघर्षरत रहते हैं और आत्म नियंत्रण प्राप्त कर लेने के बाद स्वाभाविक है कि हमें शांति मिले। लेकिन इसका अर्थ नहीं है कि तब हम सारे कर्मों को छोड़ दें। बल्कि सच्चा योगी वह है जो कर्म करता रहता है। कर्मयोगी कर्म का त्याग पूर्ण रूप से नहीं करता बल्कि कर्मों को संयम करता है। अन्य शब्दों में जब चित्त सभी इच्छाओं से रहित होकर केवल आत्मा में अवस्थित हो जाता है, तब वह योग युक्त कहलाता है।

कर्मसंस्कार तो अनेक जन्मोंके अनंत होते है, उनमे देश, काल और जन्म जन्मांतर का अंतर पड़ जाता है, इस स्थिति में वर्तमान जन्मके अनुरूप फलभोगकी वासनाएँ कैसे उत्पन्न होती है, इसपर कहते है की

जतिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्य स्मृतिसंस्कारयोरेकरुपत्वात् ।[15]

कोई कर्म किसी एक जन्ममें किया गया है और कई कर्म किसी दूसरे जन्म में किया गया है, यह उन कर्मोंमें जन्मका व्यवधान है. इसी तरह भिन्न भिन्न कर्मोंमें देश और कालका भी व्यवधान होता है. इस प्रकार जन्म, देश और काल का व्यवधान होते हुए भी जिस कर्म का फल प्राप्त होने वाला है, उसके अनुसार भोगवासना उत्पन्न होने में कोई अड़चन नहीं पड़ती, क्योकि स्मृति और संस्कार ये दोनों एक ही है. जिस कर्मफलका उत्पादक निमित्त कारण आ जाता है, वैसी ही वासना प्रकट हो जाती है. यदि किसीको उसके पूर्वजन्मके कर्मका फल भोगनेके लिए गौकी योनि मिलनेवाली है, तो उसने गौकी योनि जब कभी पायी है, उसकी वासना प्रकट हो जायेगी। भाव यह की चाहे उस जन्मके बाद दूसरे कितने ही जन्म बित चुके हो, कितना ही समय बीत चूका हो और वह किसी भी देश में हुवा हो, उसकी वासना स्फुरित हो जाएगी। स्मृति और संस्कारोंकी एकता होनेके कारण जो फल मिलता है, उसके अनुकूल भोगवासना यानि स्मृति पड़ा हो जाती है।

हेतुफ़लाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः।[16]

वासनाओंका हेतु अविद्यादि क्लेश और उनके रहते हुए होनेवाले कर्म हैं। इनका फल पुनर्जम, आयु और भोग है। आश्रय चित्त है और शब्दादि विषय आलम्बन। वासनाएँ इनके सम्बन्धसे ही संगृहीत हो रही है। जब योग साधनोंसे इनका आभाव हो जाता है अर्थात जब विवेक ज्ञान से अविद्याका नाश हो जाता है तब कर्मोंमें फल देनेका सामर्थ्य नहीं रहता, चित्त अपने कारण में विलीन हो जाता है। उपर्युक्त साधनोंके न रहनेसे विषयोंके साथ पुरुषका समंध नहीं होता। इस प्रकार हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन इन चारोंका आभाव होनेसे वासनाओंका आभाव अपने आप हो जाता है, अतः योगी का पुनर्जन्म नहीं होता

उपरोक्त में भी भगवान श्रीकृष्ण ने कहा कर्म सन्यास साधक को मुक्ति की और ले जाता है, और महर्षी पतंजलि का भी यही मत है की जाती काल और पूर्वजन्म के कर्म हमेशा वासना उत्पन्न करते है। अतः हम में कर्मफल का नाश होने से अविद्यादि क्लेशो का नाश हो पूर्व जन्म की स्मृतियो से मुक्त होकर साधक सभी कर्मफलो को क्षीण करते हुए जन्ममरण के बंधन से मुक्त होता है।

निष्कर्ष

उपरोक्त कथनों एवं वचनो से इस बात की पुष्टि होती है की, वर्तमान समय में कर्मयोग मार्ग का अनुशीलन ही मुक्ति का मार्ग है। आधुनिक युग की विसंगतियों दूर कर मनुष्य मात्र के उत्थान का मार्ग कर्मयोग ही है। कर्मयोग की सार्वभौमिकता और प्रासंगिकता मनुष्य जीवन के हर क्षेत्र में प्रभावप्रद है। श्रीमद्भगवद्गीता में विविध साधना पद्धति मार्गो का प्रतिपादन किया है किन्तु कर्मयोग की साधना को उच्च माना है। गीता में और पातंजल योगसूत्र दोनों में कर्मो के विविध प्रकार प्रतिपादित किये है, अपितु दोनों में साधक ने निष्काम भाव से किये जाने वाले कर्मो ही सच्चा कर्मयोग बताया है इसी को महर्षि पतंजलि ने अकृष्ण अशुक्ल कर्म कहाँ है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1- https://www.ijcrt.org/papers/IJPUB1304112.pdf

2.https://archive.airo.co.in/paper/admin/upload/international_volume/3264Dr.%20Saroj%20Gupta%20International_vol%208

3. गीता, 2/47
4. गीता, 2/48
5. बी.जी. तिलक (1980) "गीता रहस्य" प्रकाशक तिलक मंदिर, पूना-30
6. गीता, 3/4
7. पा.यो.सु.4-7
8. गीता, 3/8
9. गीता, 3/19
10. गीता, 3/20
11. गीता, 4/20
12. पा.यो.सु.4-8
13. गीता, 5/2
14. गीता, 5/7
15. पा.यो.सु.4-9
16. पा.यो.सु.4-11
17. डॉ सर्वपल्ली राधाकृष्णन (2001) "भगवद्गीता", हिन्द पॉकेट बुक्स प्राइवेट लिमिटेड दिलशाद् गार्डन, जी.टी.रोड, दिल्ली
18. भावे विनोबा,(१९९०), Talks on the Gita, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी